सीता
मौसी
रमणिका गुप्ता

सीता मौसी

(दो लघु उपन्यास)

रमणिका गुप्ता

भूमिका

'सीता'-'मौसी' एक साथ क्यों

मेरे दो उपन्यास 'सीता' और 'मौसी' क्रमशः सन् 1996-1995 में प्रकाशित हुए थे। आदिवासियों की संस्कृति काफी हद तक बहुसंख्यक हिन्दू समाज की विकृतियों का शिकार हो चुकी थी और यह प्रक्रियाँ सतत् जारी थी। आदिवासी समाज मजबूरन या जबरन खेतों, खदानों में मजदूर बन कर या बना कर आ रहा था या लाया जा रहा था। सरकार तथा सूदखोरों व दिकुओं और बाहरी लोगों द्वारा उनकी जमीनों और जंगलों का उनसे छीना या हड़पना जारी था। आदिवासी स्त्री-देह वस्तु में परिवर्तित करने की होड़ मची थी।

अपनी अस्मिता बचाने हेतु स्त्रियाँ विशेषकर आदिवासी स्त्रियाँ जोख़िम पर जोख़िम उठा कर जूझ रही थीं कहीं व्यक्तिगत स्तर पर, तो कहीं सामूहिक स्तर पर या संगठन के माध्यम से तो कहीं अपनी नियति मान कर सह रही थीं। मूल्य बदल रहे थे। परिभाषाएं या तो अर्थ खो चुकी थीं या उनके अर्थ बदल दिए गए थे। एक मुक्त समाज, जिसे सदियों पहले सभ्यता बाहर कर दिया गया था, वर्जनाओं, निषेधों, वंचनाओं और दर्प-दंभ-अहम् से भरे विभेदकारी, विशिष्टतावादी समाज जो अब इनके जंगलों में घुस आया था की जीवनशैली के रूबरू खड़ा नहीं रह पा रहा था। आदिवासी समाज की मुक्तता का अर्थ स्वछन्दता लगाया जा रहा था और उनकी स्वतंत्रता को कुत्सित दृष्टि से

देखा जा रहा था। उसके भोलेपन-मासूमियत, सीधेपन और अज्ञानता के कारण लोग मनमाने ढंग से लूट मचाए हुए थे। कोयला क्षेत्र में तरह-तरह के कई-कई प्रदेशों से जुटे माफिया के झुण्ड-के-झुण्ड अपनी पताका फहराकर अपना वर्चस्व जमाने के लिए खूनी खेल खेल रहे थे। सूदख़ोर अपना लोटा, सोटा और बही-खाता लेकर गांव-गांव, टोले-टोले फैल चुके थे। आर्थिक शोषण और शारीरिक हिंसा व हमलों को झेल कर भी आदिवासी समाज अपनी भाषा-संस्कृति और सम्मान के लिए एक प्रकार के गुरिल्ला युद्ध की शैली में अपने को बचाए रखने की कोशिश कर रहा था।

खदानें निजी हाथों में थीं फिर सरकारी हो गईं, लेकिन आदिवासी किसानों की स्थिति बद से बदतर होती गई। किसान से मजदूर बना जंगल और जमीन से बहिष्कृत कर दिया गया। आदिवासी एक तरफ जल-जंगल-जमीन की लड़ाई लड़ रहा था, तो दूसरी तरफ रोजगार पाने और रोजगार बचाने की। साथ-ही-साथ लड़ रहा था वह अधिकारों की बुनियादी लड़ाइयाँ। विस्थापन और पलायन से अभिशप्त आदिवासी समाज की पहचान पर खतरा मंडरा रहा था। उसमें आत्मसम्मान का बोध जग रहा था और वह संघर्ष के लिए लामबद्ध होने लगा था। इन लड़ाइयों में स्त्रियों की निर्णायक भूमिका थी। पुलिस का सामना वे आगे की कतार में खड़ी हो कर करती थीं।

'मौसी' ने जंगल से अपनी जंग शुरू की और खदानों के बीहड़ में धक्के खाकर फिर अपने गांव लौट आई। लौट आई वह अपने जंगल में जंगल, जो उजड़ चुका था, उस गांव में, जो मूल आदिवासियत गंवा कर जातियों का अखाड़ा बन रहा था। मौसी संघर्ष की भाषा सीख चुकी थी। उस माहौल में अट नहीं पा रही थी। वह अस्मिता को पहचान

और जान चुकी थी। उसने अपनी स्वतंत्रता बरकरार रखने के लिए गांव भी छोड़ दिया और वह कमाने खटने के लिए शहर आ गई अपने भरोसे जीने के उपक्रम का संकल्प लेकर। बहुत से पुरुषों को हाथों में फिसलती चली गई थी मौसी। अब उसे पुरुष के भरोसे जीना स्वीकार नहीं था। उसे स्वीकार्य था पुरुष का साथी बन कर साथ लेना पति या खूंटा बना कर नहीं।

सीता अपनी जंग शुरू करती है कोयला खदानों से। उस मिली-जुली बोली-भाषा वाली संस्कृति के बल पर वह अपनी पहचान बनाती है। किसान से कामगार बन चुकी सीता किसानों की लड़ाइयों का नेतृत्व भी एक अगुआ दस्ते की सदस्य के नाते करती है। धर्म व जाति को वह अपने आदिवासी समाज के नज़रिए से देखती है। वह अपनी जीवनशैली बरकरार रखती है और वैसे ही जीती है रहती है! वह डट कर पितृसत्ता और धर्म का मुकाबला करती है। आर्थिक स्तर पर भी वह मजदूरों के हकों के लिए संघर्ष करती है। राजनीतिक स्तर पर भी वह जागरुक हो चुकी है और संगठन पर अपनी पकड़ जमा चुकी है। हां राजनैतिक तिकड़मों से अनजान है वह। इस सब के बावजूद वह राम की सीता को पछाड़ कर एक नई सीता बन गई है, जो अपनी स्वतंत्रता की परिभाषा खुद गढ़ने में सक्षम होना चाहती है। वह गांव वापिस न लौटकर खदानों में ही एक कतार, एक शृंखला बनकर स्त्री की अस्मिता, मजदूरों के अधिकार और किसानों के हक की लड़ाई लड़ने का ही नहीं, उसे जीतने का भी सपना पालती है। जंगल हो या खदान, गांव हो या शहर, पटना की राजधानी हो या प्रदर्शनकारियों की भीड़ को ले जा रहे भारतीय रेल के डिब्बे, कहीं भी नहीं डरती वह। वह सभी जगह डट जाती है। संगठन और संघर्ष दोनों

करना सीख गई है वह। भ्रष्टाचार क्या है इसकी समझ भी उसे आ गई है। वह सीधे हमला करती है भ्रष्ट प्रशासन पर!

दोनों उपन्यास आदिवासी समाज के दो पहलू हैं राजेन्द्र यादव जी के शब्दों में दोनों एक व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं या पूरक हैं।

इसीलिए हमने इन दोनों उपन्यासों को अलग-अलग नहीं बल्कि एक साथ प्रकाशित करने का निर्णय लिया है ताकि ये एक साथ पढ़े जा सकें और उस दौर के इतिहास को साहित्यिक संवेदना के दृष्टिकोण से पढ़ा, जाना और समझा जा सके। इन उपन्यासों में सामाजिक पक्ष, इतिहास की प्रमुख परिघटना है। दोनों उपन्यास इस नए संस्करण में आपके समक्ष प्रस्तुत हैं! आदिवासियों की छिन्न-भिन्न नष्ट होती संस्कृति के संघर्ष के इतिहास के वरक एक साथ पढ़ने पर जो चित्रा या निष्कर्ष निकलेगा, संभवतः उससे आदिवासियों की या उनके प्रति संवेदनशील लोगों की वर्तमान या आने वाली पीढ़ी इस समतावादी, भाईचारावादी और आजादी प्रिय आदिम संस्कृति को बचाने के उपाय भी ढूंढ निकाले।

हो सकता है स्वतः ही कोई निष्कर्ष निःसृत हो जाए इन शब्दों की कतारों में आए संवादों से या प्रश्नों से।

इन उपन्यासों की दोनों नायिकाएं 'सीता' और 'मौसी' अभी मौजूद हैं एक खदान में, एक गांव में।

रमणिका गुप्ता

सीता

‘‘त्याग और तपस्या की प्रतीक सीता जब रामायण के युग से निकलकर आज के संघर्षो में भूख से जूझती हुई जवान होती है तो वह सर्वहारा वर्ग के लिए आधुनिक रावणों से लड़ती है। आज की सीता जूझी है हर रिश्ते से, उमर के हर मोड़ पर। उसने मौत से छीना है जिन्दगी को। सीता अब अपने से बाहर खड़ी सीताओं के लिए लड़ने लगी है। सीता अब एक कतार है, एक शृंखला है, एक पांत है। पांत जो चुप थी आज तक, अब बोलने लगी है। पांत जो जड़ थी सदियों से, अब फुंकारने लगी है। आज की सीता अपने बदलाव की बाढ़ में गली-सड़ी मानसिकता को बहाए ले जा रही है, समुद्र के गर्त में दफनाने के लिए। वह इंतजार में है कि कल जो सूरज निकले, जो हवा बहे, वह उस जैसी सीताओं के हिस्से में भी आए जिससे वे वंचित रही हैं, सभ्यता के आने के बाद से। सीता ऐसी लपट है जो मनुष्यता के लिए उजाले बांटती है और दानवता को जलाकर राख करने में समर्थ है।’’

महाश्वेता देवी

को

जिनकी रचनाओं ने मुझे

आदिवासियों-दलितों में

अपने अनुभवों को रूप देने के लिए

प्रेरित किया

सीता

सीता, प्यारी, रनिया और सरस्वतियाँ, चार बहनें सुमित्रा की चार बेटियाँ शुकरा करमाली की बेटों जैसी औलाद। चारों बेटियाँ अपने माँ, बाबा और चाचा के साथ राँची जिला के खूँटी गाँव से राजा की खदान केदला में खटने आईं । 1958 में। राजा साहब नई-नई खदानें, नई-नई पोखरियाँ खोल रहे थे। राजा साहब जिनका नाम पूरे छोटानागपुर में मशहूर था जिनका राज हजारीबाग-राँची-मांडर तक फैला था, जिनकी रानी अंग्रेजों के जाने के बाद से हर पाँच वर्ष में प्रजा को सिन्दूर-दान करने निकलती और अपने सुहाग और प्रजा के भाग के लिए वोट माँगती थी, जो जंगल के मालिक तो थे ही जनता का पेट पालते थे। आखिर जनता से तो कुछ नहीं वसूलती थी रानी। बेचारी एक कागज के टुकड़े पर, कभी साइकिल कभी शेर पर मुहर लगाने को ही तो कहती थी! वरना उसे क्या दुःख था! पूरे राज-पाट, जमीन-जंगल-आकाश, आग-पानी सभी तो राजा साहब के वश में है। जंगल की आग और बादल की गाज, दोनों पर उनका वश है। इसलिए हैलीकाप्टर में राजा साहब चलते तो नीचे जंगलों में, रास्तों पर, खेतों में आदिवासी प्रजा धरती पर लेटकर उन्हें साष्टांग प्रणाम करती, फिर खड़े होकर हाथ माथे तक ले-जाकर जोर-जोर से 'जोहार-जोहार' कहते सब लोग। बच्चे मा को खींचकर झोंपड़े से बाहर ले आते 'राजा आया...राजा आया', चिल्लाते।

इन विश्वासों को पाल रही प्रजा इन मान्यताओं को स जो रही जनता के, उसी राजा की धरती में कोयला निकला था। खटने के लिए बुलाया था। दलाल पूरी श्रद्धा से